

1. बाह्य का विस्तार : 'झूठा सच'

नेमिचन्द्र जैन

काल-प्रवाह में इतिहास के कुछ क्षण ऐसे होते हैं जिनमें अचानक ही एक साथ कई युग सिमट आते हैं और जिनमें अकस्मात् मन का ऐसी सर्वथा अकल्पनीय अनुभूतियों से साक्षात्कार हो जाता है जिनकी छाप परवर्ती युगों में पीढ़ियों तक बनी रह जाती है। संवेदनशील सर्जनात्मक प्रतिभा के लिए ऐसे युगक्षण सदा ही चुनौती बनते हैं। क्योंकि एक ओर तो उन क्षणों में उसे मानव-चेतना के ऐसे रूप दिखायी पड़ जाते हैं जो साधारणतया सुलभ नहीं, और इसलिए उन्हें किसी कलात्मक रूप में लिपिबद्ध करने का बड़ा तीव्र आकर्षण होता है; दूसरी ओर ऐसे क्षणों में एक साथ ही इतना कुछ पुंजीभूत और केन्द्रित होकर घटित होता है कि उसमें से सार्थक और निरर्थक का चयन असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो जाता है। इसके अतिरिक्त ऐसे समय घटनाओं, भावों, विचारों अनुभूतियों की गति में इतनी तीव्रता रहती है कि उन्हें किसी परिप्रेक्ष्य में, किसी विवेकपूर्ण क्रम में रखना दुष्कर होता है। फलस्वरूप ऐसे क्षणों को अपनी विषयवस्तु बनाने वाली कृतियाँ प्रायः तथ्यों के ढेर से अपनी निजी सत्ता खो बैठती हैं, और मानवीय दस्तावेज के बजाय सूचना-संग्रह मात्र रह जाती हैं। इसलिए किसी समुदाय, देश या समाज के जीवन में आनेवाले ऐसे उपप्लावन उनके प्रति संवेदनशील कलाकार के मन में अनिवार्य रूप से अन्तर्द्वन्द्व और कभी-कभी अन्तर्विरोध की सृष्टि करते हैं: वह बहुत आकर्षित होते हुए भी उनको अपनी रचना की विषयवस्तु नहीं बना पाता, या बना डालता है, पर फिर अपने प्रयास में सफल या उससे सन्तुष्ट नहीं हो पाता। स्वाधीनता के बाद देश के विभाजन को लेकर लिखा गया यशपाल का वृहद उपन्यास 'झूठा सच' ऐसे अन्तर्द्वन्द्व या अन्तर्विरोध का बड़ा महत्वपूर्ण उदाहरण है।

'झूठा सच' अपने दो खण्डों में 1942 से 1947 तक के कालखण्ड को घेरता है यद्यपि उसमें विस्तृत चित्रण 1646-48 के काल का ही है। इस प्रकार वह देश के विभाजन की पूर्ववर्ती पृष्ठभूमि, उसकी यथार्थ प्रक्रिया तथा परवर्ती परिणति, सभी को प्रस्तुत करता है। इसके लिए लेखक ने लाहौर में भोला पांथे की गली में रहने वाले निम्न मध्यवर्गीय परिवारों और उनके विभिन्न सदस्यों के बाह्य जीवन, पारस्परिक व्यवहार और व्यक्तिगत आचरण, सामूहिक तथा वैयक्तिक संस्कार,

में - देखा है, और फलस्वरूप होने वाले परिवर्तन या रूपान्तरण को दिखाने का प्रयास किया है। भोला पांथे की यह गली जैसे एक समूचे समाज की प्रतीक है और लेखक ने उसके जीवन्त सामूहिक व्यक्तित्व को रूपायित करने में बड़ा सचेष्ट परिश्रम किया है। लाहौर के अन्य भाग भी इस गली की तुलना में, समानता में, भिन्नता में, विसदृशता और पारस्परिक सम्बन्ध में ही उभरते हैं। स्वयं गली में रहने वाले व्यक्तियों का बाह्य और आन्तरिक जीवन भी गली के इस सामूहिक व्यक्तित्व के परिप्रेक्ष्य और सम्बन्ध में ही देखा और अंकित किया गया है जो उन व्यक्तियों को एक मूर्त और ठोस आधार प्रदान करता है, उन्हें उनके परिवेश और उसके विभिन्न सम्बन्ध-सूत्रों के संदर्भ में देखने-परखने में सहायक होता है।

प्रारम्भ में देश के सभी भागों की भाँति लाहौर और इस गली के जीवन में भी एक प्रकार की परम्परागत स्थिरता, आबद्धता और जड़ता ही दिखायी पड़ती है, यद्यपि नये ज़माने का प्रभाव भी धीरे-धीरे छनकर आता जाता है। किन्तु दूसरे महायुद्ध के बाद, अचानक देश की राजनीतिक परिस्थितियों में तेज़ी से परिवर्तन होने के कारण, यह स्थिरता टूट जाती है, जीवन की गति की तीव्रता बढ़ जाती है, और सम्पूर्ण सामुदायिक और वैयक्तिक जीवन में भयंकर उथल-पुथल मच उठती है। सदियों की रवीकृत स्थापित परिस्थितियाँ, पद्धतियाँ, मान्यताएँ चूर-चूर होने लगती हैं, और हर व्यक्ति अपने मूल केन्द्र से उखड़कर इस प्रकार दिशाहीन हो जाता है जैसे किसी सर्वग्रासी तूफान में उड़ता हुआ निरीह पत्ता हो। अन्त में जब तूफान का वेग कुछ कम होता है, तो पता चलता है कि इनमें से अधिकांश वृन्तच्युत, निस्सहाय पते अपने मूलस्थान से दूर पहुँचकर इधर-उधर बिखर गये हैं, और ज़िन्दगी का एक नया अध्याय शुरू हो रहा है। यह दूसरा स्थान है दिल्ली, भोला पांथे की गली से हर सम्भव अर्थ में भिन्न, जहाँ उस गली के प्रायः सभी सदस्य और उनसे जुड़े हुए अन्य व्यक्ति अपने जीवन का नया आधार, नया अर्थ, नया भविष्य खोजने और रचने के लिए प्रयत्नशील दीख पड़ते हैं। 'झूठा सच' एक भयंकर विस्फोट के फलस्वरूप एक छोटी-सी गली से बढ़कर महानगर बन जाने की तीखी यातना-भरी यात्रा की कथा है।

निस्सन्देह इतिहास के ऐसे विस्फोटक क्षण को अपने सर्जनात्मक कार्य की विषयवस्तु बनाकर लेखक ने उस चुनौती को पूरी तरह स्वीकार किया है जिसका प्रारम्भ में उल्लेख हुआ था। कई दृष्टियों से इस कार्य के लिए यशपाल हिन्दी में सबसे सक्षम,

समझने के लिए उपयुक्त ऐतिहासिक दृष्टि है; उनका जिन्दगी के विभिन्न पक्षों का अवलोकन-निरीक्षण विस्तृत और समृद्ध है; उनमें विभिन्न सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक शक्तियों और प्रभावों को अलग-अलग, एक साथ और उनके पारस्परिक सम्बन्धों में, देखने की रुचि भी है, प्रवृत्ति भी; उनके भीतर का सजग प्रखर व्यंग्यकार उन्हें कभी किसी स्थिति के साथ सर्वथा एकाकार हो जाने से बचाये रखता है और बहुत संकीर्ण अर्थ में पक्षधर नहीं होने देता; उनमें एक प्रकार की मूर्तिभंजकता और साहसिकता है जिसके कारण वह बड़ी-से-बड़ी प्रतिमा को भी खण्डित करने में नहीं झिझकते; उनकी सहानुभूति, विशेषकर, पीड़ित-दलित, लाछित-प्रताड़ित जन-समुदाय से, बड़ी सहज और व्यापक है। 'झूठा सच' में यशपाल अपनी इन क्षमताओं का भरपूर उपयोग करते हैं। विभाजन-जैसी सर्वग्राही घटना को उन्होंने उसकी आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और वैयक्तिक समग्रता में, साथ ही उसकी गतिमानता में, देखने का प्रयास किया है। इस राजनीतिक घटना की जड़ों को देखने-समझने के लिए लेखक ने पहले खण्ड में साम्प्रदायिकता के विषय के बढ़ने की विभिन्न अवस्थाओं का, उसके विभिन्न सामाजिक-राजनीतिक-वैयक्तिक स्तरों का, उसके बारे में विभिन्न प्रतिक्रियाओं तथा उसके विभिन्न स्थूल-सूक्ष्म रूपों और स्थितियों का, प्रस्तुतीकरण किया है। उसने न तो साम्प्रदायिकता के आर्थिक-राजनीतिक पक्ष से बचने की कोशिश की है, न धार्मिक पक्ष से। इस भाँति विभाजन की पृष्ठभूमि को, विशेषकर उसके सामाजिक पक्ष को, वह बड़ी विशदता से उपन्यास में प्रस्तुत कर सका है।

एक प्रकार से यह विशदता, जीवन की विविधता, ही यशपाल के कथा साहित्य की महत्त्वपूर्ण और सर्वप्रमुख उपलब्धि है। इस अर्थ में कहा जा सकता है कि मानव-स्वभाव के अनगिनती रूपों के दर्शन उनके इस उपन्यास में होते हैं, विशेषकर जीवन की सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों को बड़े विस्तार से अंकित किया गया है— पहले खण्ड में भोला पांथे की गली और सारे लाहौर की राजनीतिक-सामाजिक जिन्दगी का, तथा विभाजन के साथ ही उसके टूटने, बिखरने और चूर-चूर हो जाने का; और दूसरे खण्ड में, विभाजन के तुरन्त बाद से अगले आठ-दस वर्ष तक, दिल्ली के अस्त-व्यस्त, केन्द्र-विच्युत, जनाकीर्ण जीवन का। यह वर्णन इतना अधिक 'यथार्थ' और 'प्रामाणिक' है कि एक पूरे युग का विवरण मिल जाता है, जैसे बड़ी ही सावधानी और सिद्धहस्त निपुणता से अखबारों

खण्ड के इन जीवन-चित्रों में मार्मिकता, स्वाभाविकता अधिक है, जीवन का सहज रस अधिक प्रवाहित जान पड़ता है; स्थान-स्थान पर ऐसी कचोट और व्यथा भी है जिसे एक कलाकार ही देख और उजागर कर सकता है। दूसरे खण्ड में, घटनाओं की उग्रता, पाशविकता और अकल्पनीय तीव्रता अधिक उभरकर सामने आयी है, कथा और प्रसंगों के अनगिनती सूत्र उलझे दीख पड़ते हैं जिनमें गहनता तो नहीं पर फैलाव अवश्य ही बहुत है, चाहे वह फैलाव भी विशृंखल ही हो, किसी सम्पूर्णता को स्थापित न कर पाता हो। 'झूठा सच' में यशपाल की क्षमता की बहुत-सी विशेषताओं से — कहानी गढ़ने और कहने की सामर्थ्य, एक विशेष प्रकार की रोचकता और उसकी चसक, विषमता और पाखण्ड के ऊपर चुभते हुए तीखे पैने व्यंग्य, राजनीतिक आन्दोलनों को सामाजिक यथार्थ के अन्य पक्षों के साथ समेटते चलने के कौशल, आदि से — एक नये रूप में साक्षात्कार होता है। और ये सब विशेषताएँ किसी हद तक इसको हिन्दी-उपन्यास में एक खास दर्जा भी देती हैं।

लेखक ने अपने इस उपन्यास को 'झूठा सच' कहा है। एक तो इसलिए कि तारा का सोमराज की पत्नी होना सच होकर भी सच नहीं है। विवाह की पहली ही रात को सोमराज द्वारा वह अपमानित तथा पीड़ित-प्रताड़ित ही होती है, स्थूल अर्थ में भी उसकी पत्नी नहीं बनती। और उसके बाद तो गली में दंगा होने के कारण वह मकान से कूदकर भाग निकलती है और फिर उस तूफान में पड़कर बहुत-कुछ सहती-भोगती दिल्ली पहुँचकर अन्त में नये सिरे से अपने जीवन को गढ़ती है। किन्तु सोमराज से औपचारिक विवाह एक बार फिर उसके अपमान और पराजय और आघात का कारण बनने को है कि वह उस 'झूठे' सच से किसी प्रकार मुक्ति पा जाती है। नैयर कहता है, "घटना तो झूठ-सच नहीं होती, झूठ-सच तो घटना को प्रकट करने के प्रयोजन में होता है। मूल सत्य को प्रकट करने के लिए प्रयत्न करना या उसे जमाना भी आवश्यक होता है। सच को बल देने के लिए साक्षी आवश्यक होती है।"

यह उद्धरण एक प्रकार से यशपाल की विशेष कला-दृष्टि को सूचित करता है — सत्य को 'जमाना' या उसको बल देने के लिए 'साक्षी' जुटाना। इस कथन में ही दृष्टि के उस सरलीकरण के बीज हैं जो यशपाल को सत्य की जटिलता को देखने से रोकता है, जो उनके 'सच' को अन्ततः सीमित, एकांगी, जमाया हुआ,

सत्य मान लेते हैं, उसे 'जमाने' में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ते और इस प्रक्रिया में उसे अधिकाधिक आंशिक बनाते जाते हैं। इस प्रक्रिया के फलस्वरूप एक प्रकार का आवेश उनके लेखन में अवश्य आता है, एक प्रकार की भाव-ऊष्मा, जो उनका विशेष रंग है पर रचना की शक्ति, उसकी निर्मम, निरपेक्ष अनिवार्यता नष्ट नहीं तो शिथिल अवश्य हो जाती है।

इस उपन्यास में भी उन्होंने अपने सच को जमाने का भरसक प्रयत्न किया है। तारा के सोमराज से स्वतन्त्र व्यक्तित्व को स्थापित करने के लिए अनगिनती स्थितियाँ, घटनाएँ जुटायी गयी हैं। इसीलिए अन्ततः तारा की कहानी भी यशपाल के एक अन्य उपन्यास 'मनुष्य के रूप' की सोमा की कहानी की भाँति, एक सफलता-कथा बनकर रह गयी है। तरह-तरह की परिस्थितियों और लांछनाओं को पार करती हुई तारा एक ओर सफलतापूर्वक भारत सरकार में अण्डर-सेक्रेटरी बन जाती है और दूसरी ओर उसे डॉक्टर प्राणनाथ का सर्वथा निस्वार्थ एकान्त प्रेम भी प्राप्त हो जाता है। इसके सम्पूर्ण प्रतिफलन में भी दो बाधाएँ आती हैं। एक तो यह कि लाहौर से दिल्ली तक की अपनी पीड़ाभरी यात्रा में एक मुसलमान द्वारा बलात्कार के फलस्वरूप उसे एक जघन्य यौन-व्याधि लग गयी है और वह इस कारण अपने को इस योग्य नहीं समझती कि डॉक्टर नाथ से विवाह की कल्पना भी करे। दूसरी ओर इसका इलाज भी कैसे हो? इसमें तो अपवाद का भय है। इसका हल यह निकलता है कि डॉक्टर नाथ सहर्ष उससे विवाह करके उसे विदेश ले जाते हैं और वहाँ सफलतापूर्वक इस व्याधि से मुक्ति पाकर दोनों स्वदेश लौट आते हैं। दूसरी बाधा यह उत्पन्न होती है कि तारा के भाई जयदेव पुरी के उकसावे और सहयोग से सोमराज तारा पर अपनी पत्नी होने का दावा करता है। फलस्वरूप सरकारी कर्मचारी होकर भी ऐसा अनैतिक कार्य करने के लिए डॉक्टर नाथ और तारा के आचरण की जाँच होने लगती है और यह आशंका होती है कि दोनों को सरकारी नौकरी से हाथ न धोना पड़े। पर उपन्यास के अन्त में तारा और डॉक्टर नाथ भी 'एक्ज़ानेरेट' (दोषमुक्त) हो जाते हैं और कोई कठिनाई नहीं बचती। जितने दुष्ट लोग हैं उन सबको अपने किये का फल मिलता है, और भले लोगों पर आयी हुई विपत्ता का आखिरकार अन्त होता है। केवल इस एक वाक्य की ही कसर है कि 'जैसे इनके दिन फिरे सबके फिरे।' अन्त की यह अतिनाटकीय सुखदता गहन जीवनदृष्टि के अभाव अथवा उसके अत्यन्त संरलीकरण की जिस प्रवृत्ति की सूचक है, वह लेखक यशपाल के गौरव को बढ़ाती नहीं है।

किन्तु एक और अर्थ में भी लेखक ने अपनी इस कथा को 'झूठा सच' माना है। उपन्यास के समर्पण में लेखक ने कहा है: "सच को कल्पना से रंग-कर उसी जन-समुदाय को सौंप रहा हूँ जो सदा झूठ से ठगा जाकर भी सच के लिए अपनी निष्ठा और उसकी ओर बढ़ने का साहस नहीं छोड़ता।" वास्तव में उसने उपन्यास के अनगिनती इन्सानों की पीड़ा-यात्रा को जीवन की एक निर्मम क्रूर नियति के बजाय, स्वार्थी लोगों द्वारा जनसाधारण को झूठ से ठगने और जनसाधारण द्वारा इन स्वार्थियों को परास्त करके अपना भाग्य अपने हाथ में ले लेने के दोहरे संघर्ष के रूप में देखा है। दूसरे खण्ड का, बल्कि पूरे उपन्यास का अन्त डॉक्टर प्राणनाथ के इन शब्दों से होता है: "गिल, अब तो विश्वास करोगे, जनता निर्जीव नहीं है। जनता सदा मूक भी नहीं रहती। 'देश का भविष्य' नेताओं और मन्त्रियों की मुट्ठी में नहीं है, देश की जनता के ही हाथ में है।"

काश, यह बात सच होती! उपन्यास का समर्पण और उसका यह अन्त लेखक की रचना-दृष्टि में उद्देश्यपरकता को तो सूचित करता ही है, साथ ही उसके दृष्टिकोण में अत्यधिक सरलीकरण और इच्छित चिन्तन की उस प्रवृत्ति को भी दृढ़ करता है जिसका पहले उल्लेख हुआ। आधुनिक भारतीय इतिहास की इस सबसे अधिक विस्फोटक घटना को विभिन्न राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक शक्तियों के संघात की परिणति के रूप में देखने के प्रयास में वह उन्हीं को पूर्णतः नियामक मानने लगता है, बल्कि कभी-कभी तो वह केवल उन्हीं को देखता जान पड़ता है, जैसे उनके आवर्त में फँसे इन्सान उदाहरण मात्र हों। दूसरे, इन शक्तियों को पहचानने की कोशिश में उसे जिन्दगी का बाह्य रूप ही अधिक दीख पड़ता है, उसकी पीड़ा की गहराई नहीं। और तीसरे, वह इस सबका एक सरल हल पाने के लिए बहुत ही उत्सुक-लालायित है, जो वह 'जनता' के एक प्रकार के रोमैंटिक गौरवान्वयन के रूप में प्राप्त करता है। उपन्यासकार यशपाल की यह सबसे बड़ी दुर्बलता है कि वह अपने पूर्व-चिन्तित और सरलीकृत निष्कर्षों से अपने जीवन के दर्शन को, पर्यवेक्षण को प्रभावित हो जाने देते हैं। उनकी राजनीतिक-सामाजिक मान्यताएँ उनकी दृष्टि को प्रभावित करती हैं—उसे कम-से-कम गहराई के आयाम में सीमित भी बनाती है, धुंधली भी, और सतही भी।

इस प्रवृत्ति की एक अन्य दिलचस्प अभिव्यक्ति है राजनीतिक प्रश्नों का बड़ा सतही प्रकार का विवेचन। जैसे, यशपाल गाँधी और गाँधीवाद से बड़े अप्रसन्न हैं, कुछ

शवपरीक्षा' राजनीति पर सरलीकृत, किशोरसुलभ और तथाकथित 'उग्र' चिन्तन-विवेचन का बड़ा उल्लेखनीय उदाहरण है। गाँधीवाद के सम्बन्ध में उनका यह पूर्वाग्रह 'झूठा सच' में भी दिखायी पड़ता है। जगह-जगह आवश्यक-अनावश्यक रूप में गाँधी और गाँधी के सिद्धान्तों पर छीटाकशी है, अहिंसा के सिद्धान्तों की खिल्ली उड़ायी गयी है। स्वाधीनता-आन्दोलन में और उसके बाद गाँधीजी के विभिन्न कार्यों और उनके सिद्धान्तों को कहीं तीखे और कहीं निहित व्यंग्य से प्रस्तुत किया गया है। विभाजन के बाद दिल्ली में मुसलमानों की रक्षा को लेकर गाँधीजी के अनशन के प्रसंग का कुछ ऐसे ढंग से वर्णन किया गया है, जैसे वह सब निरा ढोंग और पाखण्ड हो। इसी प्रकार कांग्रेस सरकार और जवाहरलाल नेहरू की भी बड़े हलके सतही ढंग की आलोचना है। सामान्यतः पूरे उपन्यास में राजनीतिक प्रश्नों पर यशपाल का मतामत मोटे तौर पर कम्युनिस्ट पार्टी के विचारों का समर्थक है; विभाजन से पहले और बाद में विभिन्न राजनीतिक स्थितियों और शक्तियों के सन्तुलन को प्रायः उसी रूप में प्रस्तुत किया गया है जिस प्रकार कम्युनिस्ट पार्टी करती थी, यद्यपि कुछेक प्रश्नों पर कम्युनिस्टों से भिन्न विचार भी उन्होंने रखे हैं। सामान्यतः व्यक्तियों के चरित्रांकन में भी कम्युनिस्टों के प्रति एक प्रकार का हलका-सा पक्षपात जैसा उपन्यास में महसूस होता है। यह नहीं कि लेखक की कोई विचारधारा नहीं होनी चाहिए, पर जिन्दगी के प्रस्तुतीकरण में एक समर्थ लेखक अपनी वस्तुनिष्ठता को बनाये रखकर ही विचारधारा विशेष को कलात्मक रूप में स्थापित कर पाता है। कम-से-कम महान लेखक और महान कृति में यह अनिवार्य है। 'झूठा सच' इस कसौटी का हलका उतरता है; विशेषकर दूसरे खण्ड में, जहाँ मानवीय स्थितियों के प्रस्तुतीकरण की अपेक्षा बहस अधिक है। एक प्रकार की सरलीकृत, एकांगी सिद्धान्तवादिता जो जीवन से निःसृत नहीं आरोपित अधिक जान पड़ती है, पक्षधर राजनीतिक मताग्रह लेखक की दृष्टि की निर्ममता को, प्रखरता और स्पष्टता को, कम कर देता है। फलतः मानवीय परिस्थितियों का प्रस्तुतीकरण ऊपरी लगने लगता है, प्रश्नों और स्थितियों की गहराई में जाता नहीं जान पड़ता।

दृष्टि की इसी एकांगिता का एक और भी स्तर 'झूठा सच' में है। कुल मिलाकर विभाजन की अकल्पनीय विभीषिका का मुख्य निदर्शन स्त्री के ऊपर अत्याचार के रूप में हुआ है। इस उपन्यास में स्त्री को लेकर पुरुष की विभिन्न प्रतिक्रियाओं के बेशमार चित्र हैं। विभाजन के जो तीखे-से-तीखे परिणाम हैं वे घम-फिर तारावृत्ती

उर्मिला, कनक तथा ऐसी ही अनगिनती स्त्रियों के भाग्य की विडम्बना पर आकर टिक जाते हैं। उनमें कई स्थलों पर निस्सन्देह बहुत करुणा है। किन्तु इस बात से बड़ी निराशा होती है कि ऐसे सर्वग्रासी संकट में भी मानव-स्वभाव की अन्य अनेक विकृतियों और सुन्दरताओं के प्रति लेखक की दृष्टि बहुत ही कम गयी है। विभाजन के फलस्वरूप अनगिनती स्त्रियों पर नाना प्रकार से, नाना स्थितियों में, तरह-तरह से लोगों द्वारा बलात्कार ही केवल नहीं हुआ, जीवन के अन्य बहुत-से मूल्य नष्ट-भ्रष्ट हो गये, युगों की संचित पोषित मान्यताएँ ढह गयीं अन्य सभी विविध वैयक्तिक-सामाजिक सम्बन्ध ध्वस्त हो गये, विषाक्त हो गये, संस्कारों के आधार बदल गये, जीवन से अपेक्षाएँ बदल गयीं, पूरे मानवीय आचरण का स्वरूप बदल गया। विभाजन के बाद का भारतीय जीवन, विशेषकर उत्तर भारत में और दिल्ली में किसी भी रूप में ठीक पहले जैसा ही नहीं रह सका। वह सदा के लिए एकदम भिन्न हो गया। पर यशपाल की दृष्टि जीवन के अन्य पक्षों पर इतनी नहीं जाती जितनी स्त्री के शोषण, पीड़न और अपमान पर, उसके साथ अत्याचार और पाशविक व्यवहार पर। यह अकारण ही नहीं कि उपन्यास की मुख्य पात्र एक स्त्री है, तारा। पूरे उपन्यास में स्त्री-सम्बन्धी विचारों की भरमार है, स्वयं स्त्री के, तथा उससे सम्बन्धित पुरुषों के, विभिन्न आचरणों की अनगिनती छायाएँ प्रस्तुत की गयी हैं। और स्त्री के प्रति यह असन्तुलित दृष्टि भी बड़ी स्थूल है, शरीर और सेक्स के स्तर पर ही अधिक है। यशपाल के सभी उपन्यासों में सेक्स के प्रति एक प्रकार का असन्तुलित विकृत दृष्टिकोण उनके कृतित्व के स्तर को नीचे गिराता रहा है। यहाँ भी वह नारी के शरीर और उसके साथ यौन-सम्बन्धों को लेकर पुरुषों की विभिन्न प्रतिक्रियाओं पर अधिक बल देते हैं। एक जगह तारा के विषय में लेखक ने कहा है: 'उसे जान पड़ रहा था कि वह जला हुआ मकान देश-भर में नहीं, संसार-भर में नारी' पर अत्याचार का प्रतीक है, इसीलिए भाग्य उसे यहाँ ले आया है। उसने ही नहीं, असंख्य नारियों ने पुरुषों की पाशविकता को सहा है। पुरुष को मनुष्य बना सकने के लिए स्त्री को कितना सहना पड़ेगा?" और यह एक स्थान पर नहीं, पूरे उपन्यास की रचना में ध्वनित है। अपने को मार्क्सवादी कहने वाले लेखक के लिए यह सचमुच आश्चर्य की बात है कि स्त्री के ऊपर बलात्कार से बड़ी बर्बरता और मूल्यहीनता की वह कल्पना नहीं कर पाता।

यही कारण है कि पूरे उपन्यास में जीवन की भव्यता, उदात्तता और सुन्दरता के प्रति सजगता का ऐसा अभाव है। लेखक का दृष्टिकोण सीमित ही नहीं अत्यधिक

नकारात्मक है, अभावात्मक है। उसमें व्यंग्य और तीखापन तो है, पर वह ऐसे संसार का चित्र है जो जिन्दा रहने के लिए प्रेरित करता नहीं जान पड़ता। यशपाल ब्यौरे में, घटनाओं में, जानकारी के प्रदर्शन में, उलझे रह जाते हैं, जीवन की गहनता में प्रवेश नहीं कर पाते। क्योंकि उसके लिए सचमुच अधिक संवेदनशील, सूक्ष्म और सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि चाहिए। यशपाल की कला का यह एक दिलचस्प विरोधाभास है कि कलाकार में 'जीवन-दृष्टि' पर सबसे अधिक आग्रह करने वाले लेखक में जीवन-दृष्टि का अभाव ही सबसे अधिक खटकता है।

'झूठा सच' के मानवीय तत्व पर विचार करने पर यह सरलीकरण एक और स्थिति को प्रकट करता है। उसमें इन्सान के अनगिनती रूप अवश्य हैं, पर वे अधिकांश ही बाहरी हैं। यशपाल अपने स्वभाव से ही व्यक्ति के आन्तरिक जीवन और उसके द्वन्द्व को कम देख पाते हैं। स्थूल आचरण के स्तर पर होने वाला मानसिक संघर्ष 'झूठा सच' में कम नहीं है। पर उससे भी गहरे जाकर व्यक्तित्व के मूल केन्द्र को झकझोरने वाला संघर्ष इतने बड़े उपन्यास में नहीं के बराबर है। यह खतरा विभाजन जैसी विस्फोटक घटना को विषयवस्तु बनाने के कारण हर उपन्यास के लिए रहेगा। किन्तु यशपाल का कलात्मक दृष्टिकोण उसको और भी अनिवार्य बना देता है। वह स्थिति के अन्तर्विरोध को कम देख पाते हैं, और देख भी पाएँ तो उसका गतिमान चित्रण नहीं हो पाता। उनके भीतर बैठा समाजशास्त्री, राजनीतिक, सामाजिक सिद्धान्तकार विरोधी स्थिति के किसी-न-किसी एक पक्ष को तुरन्त अपना समर्थन प्रदान कर देता है, जिससे स्थिति की द्वन्द्वात्मकता नष्ट हो जाती है, और हर अन्तर्विरोध का किसी-न-किसी इच्छित तीसरी स्थिति में पर्यवसान सहज हो जाता है।

इस प्रवृत्ति का सबसे सरल यद्यपि सबसे सफल रूप उपन्यास के केन्द्रीय व्यक्तित्व तारा में दीख पड़ता है। वह प्रारम्भ से ही संवेदनशील, पढ़ने-लिखने में तेज, महत्वाकांक्षिणी लड़की है; शुरू से ही उसे राजनीति में दिलचस्पी है। प्रारम्भ में उसके व्यक्तित्व को लेखक ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि एक निम्न मध्यवर्गीय लड़की के क्रमशः जाग्रत और आत्मसजग होने का प्रभाव संप्रेषित होता है। यह प्रभाव भी मुख्यतः बाह्य घटनाओं और परिस्थितियों के माध्यम से ही है। उसके और प्राण के बीच एक हलके-से सूत्र की स्थापना भी लेखक प्रारम्भ में ही कर देता है। बल्कि पहले खण्ड के पृष्ठ ८० पर तारा और प्राण के बीच सेक्स को लेकर

नियामक प्रसंग है कम्युनिस्ट कार्यकर्ता असद से उसका कोमल किशोरसुलभ स्नेह-सम्बन्ध। उसको लेखक ने सम्भवतः सबसे अधिक संवेदनशीलता और सूक्ष्मता के साथ, भावनात्मकता के साथ, प्रस्तुत किया है। इस प्रसंग की हल्की-सी मिठास में भावुकता या स्थूलता का अभाव है, यद्यपि समूची स्थिति कम्युनिस्ट पार्टी में हिन्दू-मुस्लिम-समानता तथा अन्य सैद्धान्तिक-राजनीतिक दृष्टियों से भी परिकल्पित लगती है। तारा एक साथ ही विभिन्न स्तरों पर आस-पास के सभी व्यक्तियों से भिन्न है - शीलो और रतन से, जयदेव से, कनक से। अन्य महत्वपूर्ण पात्रों से उसकी यह विसदृशता उसे एक व्यक्तित्व देती है, और कुल मिलाकर इस व्यक्तित्व में, कम-से-कम प्रारम्भिक अंश में, एक प्रकार की आन्तरिक संगति और विश्वसनीयता है। उपन्यास के केन्द्रीय चरित्र के रूप में उसकी विश्वसनीयता सारे उपन्यास को भी एक प्रकार की स्वाभाविकता प्रदान करती है। पर जैसा पहले कहा गया है, दूसरे खण्ड में वह क्रमशः एक सफलता-कथा की नायिका-जैसी हो जाती है, और दिल्ली में उसके अनुभवों की विविधता का विवरण रोचक अधिक है, गहरी मानवीय पीड़ा को उजागर करने वाला दस्तावेज कम। उसके जीवन का सबसे तीव्रतम सघन अनुभूति का क्षण भी पहले खण्ड में ही है - उसकी तथाकथित सुहागरात। अपनी अप्रत्याशित क्रूरता और मानव-मन के निम्नतम स्तरों के उद्घाटन के कारण यह प्रसंग उपन्यास के गहनतम आन्तरिकता वाले स्थलों में से है। इसके तथा असद के साथ प्रथम प्रेम-स्वीकार के प्रसंग के अतिरिक्त, उसका अधिकांश परवर्ती जीवन पूर्व-नियोजित और बाह्य घटनाओं का पुँज मात्र जान पड़ता है। अपने प्रति डॉक्टर प्राणनाथ के प्रेम का ज्ञान भी बड़े धरेलू साधारण स्तर पर ही रह जाता है, यद्यपि लेखक ने उसे नाटकीय बनाने का पर्याप्त यत्न किया है। कुल मिलाकर तारा आत्मसंगत और रोचक होकर भी अत्यन्त साधारण पात्र है, उसके द्वारा जीवन की ऊँचाइयों या गहराइयों का व्यंजित होना सम्भव नहीं लगता।

उपन्यास के दूसरे महत्वपूर्ण पात्र जयदेव पुरी के व्यक्तित्व में उतार-चढ़ाव और विविधता अधिक हैं, पर उसमें आन्तरिक संगति नहीं। वह द्विधाग्रस्त तथा अनिश्चित मन से रचा हुआ लगता है। पहले खण्ड में उसका जो रूप क्रमशः बनने लगता है, दूसरे खण्ड में वह लगभग नाटकीय ढंग से बदल-कर भिन्न हो जाता है। लगता है जैसे दूसरे खण्ड तक पहुँचते-पहुँचते लेखक ने उसके व्यक्तित्व को दूसरी ओर ले जाने का निश्चय कर डाला हो। उसका यह परिवर्तन मनोविज्ञान की दृष्टि से

लगता है। शायद इस परिवर्तन की आवश्यकता उसके व्यक्तित्व की अपेक्षा कथाकार को अधिक है। जालन्धर में उर्मिला के सम्बन्ध में भी उसके भावों का आकस्मिक परिवर्तन, उर्मिला के साथ अकेले रह जाने की परिणति, सब आरोपित लगती है। कनक के प्रति उसके भावों और व्यवहार में गिरावट भी बड़ी जल्दबाजी से दिखायी गयी है। इसी प्रकार तारा के लिए उसके मन का आक्रोश बड़ी सतही मनोवैज्ञानिकता का परिणाम जान पड़ता है। जयदेव तारा से तीव्र रूप में विसदृश व्यक्ति है, पर उसमें उतनी बाह्य आत्मसंगति भी नहीं जितनी तारा में है। उसकी नीचतापूर्ण परिणति इच्छित अधिक जान पड़ती है और अन्ततः उपन्यास के पूरे बुनाव को ऊपरी, कृत्रिम और आन्तरिक बनाने में सहायक होती है।

कनक तारा और जयदेव दोनों से भिन्न है, अपने परिवेश के कारण भी और अपने मूलभूत व्यक्तित्व के कारण भी। भावुकता, कल्पनाशीलता और कोमलता के साथ-साथ उसके व्यक्तित्व में साहस, संयम और खुलेपन का ऐसा मिश्रण है जो उसे विशिष्टता देता है। पर जयदेव के प्रति उसके उत्कट अदम्य आकर्षण का केन्द्र बड़ा सतही है और अपर्याप्त भी। उसकी भावात्मक अभिव्यक्ति भी कुछ अधिक मुखर है जो कनक के व्यक्तित्व को कोई ऊँचा आयाम नहीं पाने देती। परवर्ती जीवन में वह और भी सामान्य और वैशिष्ट्यहीन हो जाती है, और अपने ढंग से जीवन के उलझते जाने पर भी उसकी कोई छाप नहीं रहती। लखनऊ में गिल के साथ उसका सम्बन्ध उसके व्यक्तित्व के कुछ सशक्त रूप में उभरने की सम्भावनाएँ प्रस्तुत करता है, पर वे भी यों ही बिखर जाती हैं, उनका पूरा उपयोग नहीं होता। अन्य पात्रों में यही बात नरोत्तम के बारे में भी सही है। डॉक्टर प्राणनाथ भी दिलचस्प तो है, पर उसमें भी कोई अन्य आयाम नहीं।

गौण पात्रों में उर्मिला तथा शीलो और रतन में अधिक विशिष्टता है और वे अपनी छाप मन पर छोड़ते हैं। पर उपन्यास के उपबन्ध में उनका स्थान इतना प्रासंगिक है कि रचना के समग्र प्रभाव को वे नहीं बदल पाते। दृश्यपट की घोर घटनाप्रधानता और बाह्यपरकता में वे भी खो जाते हैं।

मानवीय परिदृश्य की इस अन्तहीन इतिवृत्तात्मकता के बीच वती का प्रसंग एकमात्र ऐसा स्थल है जिसकी तीव्रता और भावगहनता लगभग विस्फोटक है। वह सहज मानवीय विश्वास की गरिमा और निर्मम स्वार्थपरता की चरम क्षुद्रता के दो दूरस्थ छोरों को एक साथ स्पर्श करता है और अपनी प्रखरता से एक नया भावलोक

उद्घाटिता कर जाता है। यदि ऐसे स्थल कुछेक भी और होते, तो उपन्यास का स्तर निस्सन्देह भिन्न हो जाता।

पर भावना का यह छिछलापन सर्जनात्मक कृति के रूप में 'झूठा सच' को किसी सार्थक स्तर तक नहीं उठने देता। इस इतिवृत्तात्मकता का एक अन्य प्रमाण है 'झूठा सच' की नितान्त वर्णनात्मक रंगहीन, सपाट, भाषा, जिसमें व्यंजनात्मकता बहुत कम है और बिम्बमयता तो नहीं के बराबर है। जो चित्र या बिम्ब हैं भी वे निहायत स्थल, फूहड़ और चालू प्रकार के हैं। पहले खण्ड के बीच में से लगभग दो-सवा दो सौ पृष्ठों में जो थोड़े-से बिम्ब आये हैं उनकी बानगी दर्शनीय है—

“कनक की अवस्था किसी मेले में मालिक से बिछुड़ गये कुत्ते जैसी हो रही थी जो जो मालिक को ढूँढने के लिए सब ओर सूँघता और भटकता फिरता है।” (पृष्ठ 167)

“उसके आँसू से भीगे चेहरे पर मुस्कान आ गयी जैसे ओस से लदे फूलों पर प्रभात की किरणें पड़ जायें।” (पृष्ठ 179)

“कद-कण्ठ भी क्या है, जैसे लड़ाई के जमाने में मसाला न मिलने पर बचे-खुचे से ही बना दिया गया हो।” (पृष्ठ 291)

“छः दिन से नगर में शान्ति थी। ऐसी ही शान्ति जैसी चौक में भिड़ गये दो साँड़ों के लहलुहान होकर और हाँफकर गिर जाने के बाद हो जाती है।” (पृष्ठ 305)

“छज्जों के लोहे के ढाँचे पशुओं की झुलसी हुई पसलियों और पंजरो की तरह झूलते जान पड़ते थे।” (पृष्ठ 314)

“पुरी विश्राम के लिए सिंगदार पलंग पर लगे कोमल बिस्तर पर बैठा तो एक बार उछल-सा गया। यह नया अनुभव असुविधाजनक नहीं, अपितु कुछ-कुछ अपरिचित युवा नारी के स्पर्श की भाँति लगा।” (पृष्ठ 383)

किसी उत्कृष्ट कथाकृति में इससे अधिक स्थूल, लय-संगीतहीन तथा नीरस शुष्क भाषा मिलनी कठिन है। वास्तव में यशपाल 'झूठा सच' में 'सत्य' को 'कल्पना से रँगने' के उद्योग में लगे अवश्य हैं, पर नितान्त रंगसाज के स्तर पर, रंगों की मौलिक सर्जनशील योजना के द्वारा नये जीवन के स्रष्टा कलाकार के स्तर पर नहीं।

‘झूठा सच’ के सन्दर्भ में प्रायः तात्सतोय के अमर उपन्यास ‘युद्ध और शान्ति’ का स्मरण किया जाता है। पर दुर्भाग्यवश यह स्मरण ‘झूठा सच’ के लिए बहुत प्रशंसात्मक नहीं सिद्ध होता। क्योंकि इसका केवल विस्तार ही ‘युद्ध और शान्ति’ जैसा है। कलात्मक उपलब्धि इसकी इतनी सीमित है कि दोनों कृतियों में कोई तुलना ही नहीं हो सकती। यशपाल की कला की सीमा केवल यही नहीं है कि वह जीवन का एक छोटा, सतही टुकड़ा ही देख पाते हैं; बल्कि उससे भी अधिक इस बात में है कि वह जो कुछ देख पाते हैं वह मानवीय अनुभूति का सार्थकतम अंश नहीं होता। वह मूलतः जीवन की कुत्सा और पाशविकता के द्रष्टा हैं। निस्सन्देह उस पर वह बड़ा गहरा, तीखा और मार्मिक व्यंग्य कर सकते हैं। समाज के अमानवीय, विकृत, किन्तु ऊपर से संस्कृत और शिष्ट और स्वस्थ दिखायी पड़ने वाले, गलित अंश को उधेड़कर रखने में उन्हें बड़ा कमाल हासिल है। जीवन की कुरूपता को छिपाने वाली तड़क-भड़क को फोड़ सकने की यह क्षमता यशपाल को हिन्दी का महत्वपूर्ण कथाकार बनाती है। किन्तु अन्ततः यह शक्ति ही उनकी सबसे बड़ी सीमा भी है। जीवन के संवेदनशील, आन्तरिक गहन पक्ष में न तो यशपाल की गति है और न रुचि। वह मूलतः नकारात्मक मूल्यों के कथाकार हैं, रचनात्मक मूल्यों के नहीं। इस कारण उनके केवल वही पात्र कुछ-कुछ जीवन्त होते हैं जो या तो कटुता को सहन करते हैं या कटुता को जन्म देते हैं। वह ऐसे ही व्यक्तियों को शक्ति और तीव्रता के साथ चित्रित कर पाते हैं। पर जो पात्र जीवन की रचना में योग देते हैं, जिनके व्यक्तित्व में निर्माण की प्रतिभा है, अथवा जिनमें सुकुमारता, भावनाशीलता या संवेदनशीलता अधिक है, उनको या तो यशपाल देख-समझ ही नहीं पाते; और यदि देख भी पाते हैं तो उनका अंकन सहानुभूतिहीन, उखड़ा हुआ और यान्त्रिक हो जाता है। यशपाल इन्सान के मन की गहराई में उतरने का या तो प्रयत्न ही नहीं करते और केवल बाह्य आचरण के वर्णन द्वारा आन्तरिक जीवन को अभिव्यक्ति करके सन्तुष्ट हो जाते हैं, और यदि प्रयत्न करते भी हैं, तो वह आरोपित लगने लगता है। वह ऐसा जान पड़ता है जैसे किसी पूर्व-कल्पित ढाँचे में बँधा हुआ हो। ‘झूठा सच’ में वास्तव में ऐसा लगता है जैसे राजनीतिक मान्यताएँ, सम्बन्ध और गतिविधियाँ अपने-आप में एक साध्य बन गयी हों, मानवीय परिस्थिति मात्र नहीं। लगता है इन्सान राजनीति का नियामक नहीं, उसका एक खिलौना मात्र है। इस प्रकार अन्ततः फिर भी प्रभाव सतह का ही पैदा होता है, गहराई का नहीं, यद्यपि इस चित्रण में सहानुभूति का, आत्मीयता का अभाव नहीं है और इसीलिए जहाँ तक जाता है, प्रामाणिक और विश्वसनीय लगता है।

वास्तव में यशपाल सामाजिक सम्बन्धों और परिस्थितियों को सदा एक दर्शक की भाँति प्रस्तुत करते हैं। उनका मूल उद्देश्य होता है या तो सरस कहानी कहना या किसी राजनीतिक मान्यता को स्थापित करना। इसीलिए उनके उपन्यास पढ़कर किसी उपलब्धि का भाव नहीं होता; सम्भवतः कुछ जानकारी बढ़ जाती है और जीवन के कई नये पक्षों से परिचय हो जाता है। उनके पूर्ववर्ती उपन्यास 'मनुष्य के रूप' और 'अमिता' भी दोनों ही चरित्र या व्यक्तित्व की खोज की अपेक्षा किसी मान्यता की स्थापना से अधिक सम्बद्ध हैं।

यशपाल के कलाकार व्यक्तित्व की यह भावभूमि उनके उपन्यासों की सामर्थ्य और दुर्बलता दोनों को प्रकट करती है। उनकी रचनाओं में रोचकता पर्याप्त होती है, व्यंग्य का चुटीलापन भी कम नहीं होता, किन्तु जीवन को संस्कार देने वाली गहन मानवीय संवेदना का अभाव रहता है, मन को संस्कार देने वाली अथवा अधिक संवेदनशील और सजग बनाने वाली, विवेक को सतर्क बनाने वाली, सहानुभूति, करुणा और सौन्दर्य-दृष्टि नहीं मिलती। उनके उपन्यासों में जिन्दगी का अधूरा ही साक्षात्कार मिलता है। 'झूठा सच' भी इसका अपवाद नहीं। हिन्दी उपन्यास साहित्य की सबसे महत्त्वपूर्ण कृतियों में होने पर भी 'झूठा सच' अन्ततः किसी आत्यन्तिक सार्थक उपलब्धि के स्तर को छूने में असफल ही रह जाता है।